

शिक्षा में निजीकरण का सवाल

शिक्षा के निजीकरण की बहस आजकल जोरों पर है। निजीकरण के पैरोकार असफल होती सरकारी स्कूली व्यवस्था को इसका आधार बनाते हैं और प्रायोजित या पूर्वमान्य निष्कर्षों को शिक्षायी शोधों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इसके पीछे मान्यता रहती है कि सरकारी स्कूलों में बच्चों के उपलब्धि स्तर असंतोषजनक हैं और निजी स्कूल सरकारी स्कूलों की बनिस्पत बेहतर सेवाएं प्रदान कर रहे हैं। निजीकरण के पैरोकार यहां तक भी दावा कर रहे हैं कि गरीब बच्चों के लिए निजी स्कूलों के विकल्प उपलब्ध हैं और वे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध करवा रहे हैं। हमारे देश की जमीनी हकीकत से नावाकिफ शहरी बुद्धिजीवी एवं विदेशी विद्वान इस मिथक के शिकार हैं। उनकी गुणवत्ता की परिभाषा क्या है यह तो उन शोधों के हवाले से पता चलती है। बहरहाल यहां यह कह देना ही पर्याप्त है कि उनके लिए पढ़ना-लिखना आना एवं मूल गणितीय संक्रियाएं कर पाने की क्षमता ही गुणवत्ता का पर्याय है। शिक्षा के अर्थ और उद्देश्यों को बाजार के प्रभाव में इन्हीं क्षमताओं तक केन्द्रित कर देना हमारे शोधकर्ताओं की नियति है जिन्हें वे बाजार के 'पैरामीटरों' से प्राप्त करते हैं। गुणवत्ता की यह परिभाषा कितनी उचित है यह भी समझने की आवश्यकता है। इन क्षमताओं को अर्जित करने के अनेकानेक ऐसे तरीके हम जानते हैं जो कि 'सीखने' या 'जानने' का भ्रम पैदा कर सकते हैं।

इसी प्रकार के शोधों की छाया एवं शिक्षा की गुणवत्ता की परिभाषा के बीच ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में हमारे योजनाकारों ने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में 'वाउचर व्यवस्था' प्रस्तावित की है। यह महज संयोग नहीं है। यदि व्यापक राजनैतिक-आर्थिक स्थितियों के संदर्भ में देखा जाए तो यह शिक्षा में निजीकरण एवं बाजारवादी व्यवस्थाओं को आसीन करने की लम्बी तैयारी का ही हिस्सा है। योजना आयोग राष्ट्रीय लक्ष्यों एवं उनके लिए रणनीति बनाने वाली राष्ट्रीय स्तर की सबसे बड़ी संस्था है। और क्योंकि इसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री होते हैं एवं मंत्री, वरिष्ठ नौकरशाह तथा बुद्धिजीवी इसके सदस्य होते हैं। अतः इसकी क्रियान्विति को राज्य की प्राथमिकता एवं प्रतिबद्धता के तौर पर देखा जाता है।

एकबारगी यह देख लिया जाए कि योजना आयोग ने ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के बारे में क्या कहा है। राजकीय स्कूलों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कुछ तथ्य हैं और राजकीय स्कूलों की खस्ताहालत का एक चित्र यहां खींचा गया है। इस दस्तावेज में बताया गया है कि, "वर्ष 2003-2004 में ड्रॉप आउट रेट 31 प्रतिशत रही है।" और इसके कारण गिनाए गए हैं- "स्कूलों का दूर होना, स्कूलों की अनियमितता, शिक्षक की गैर-शैक्षिक कार्यों में व्यस्तता, बच्चों का ध्यान केंद्रित नहीं कर पाने वाले पढ़ाने के तरीके तथा बच्चों में शिक्षक का भय।" स्कूलों में पढ़ाई की खराब गुणवत्ता के भी कारण गिनाए गए हैं, "शिक्षकों की अपर्याप्तता,

जो कि बड़ी संख्या में रिक्त पदों से पता चलती है, शिक्षकों की गुणवत्ता, शिक्षकों की जवाबदेही और प्रेरणा में कमी, शिक्षकों की अनुपस्थिति एवं प्रशिक्षणों की अपर्याप्तता।” पढ़ने-लिखने की क्षमताओं की भी ऐसी ही तस्वीर एक अध्ययन के हवाले से प्रस्तुत की गई है कि, “स्कूली शिक्षा के चार वर्ष पूरे करने के बाद भी 38 प्रतिशत बच्चों में कक्षा दो के समकक्ष के सरल अनुच्छेद पढ़ पाने की क्षमता नहीं है और गणित में भी 55 प्रतिशत बच्चों की तीन अंकों की संख्या को एक अंक की संख्या से भाग कर पाने की स्थिति नहीं है।”

माध्यमिक शिक्षा के बारे में कहा गया है कि, “माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के लिए न केवल सरकारी बल्कि निजी प्रयासों की आवश्यकता है और इस क्षेत्र में कुल स्कूलों की 58 प्रतिशत संख्या निजी और सहायता प्राप्त निजी स्कूलों की है। यह चौंकाने वाली बात है कि लगातार ये संख्या बढ़ रही है क्योंकि राज्य सरकारों ने राजकीय शालाओं में बजटीय प्रावधान बढ़ाना बन्द कर दिया है।”

ये राजकीय शालाओं की जानी मानी तस्वीर है जिसे योजना आयोग ने भी खींचा है। यदि ये तस्वीर सही है तो इसे प्रस्तुत भी किया जाना चाहिए। लेकिन इसी तस्वीर से योजना आयोग ने ये निष्कर्ष निकाला है कि, “जवाबदेही के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों के माता-पिता को सक्षम बनाया जाए कि वे उपयुक्त स्कूल का चुनाव कर सकें। लोगों को निजी एवं सरकारी स्कूलों के बीच चुनने के लिए समर्थ बनाना और इसके लिए बच्चों के माता-पिता को ‘सुविधाजनक पुनर्भरण का हक’ देना। यानी कि राज्य बच्चों के माता-पिता को निश्चित राशि प्रदान करे जिससे कि वे अपनी इच्छानुसार बच्चों के लिए शाला का चुनाव कर सकें एवं वहां भेज सकें। योजना आयोग ने शिक्षा ही नहीं अन्यान्य क्षेत्रों में भी निजी संस्थानों की आवश्यकता पर जोर दिया है। कहा गया है कि, “वाउचर व्यवस्था समता और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के प्रसार में मदद कर सकती है।” प्रतिस्पर्द्धा के माध्यम से गुणवत्ता बढ़ाने की भी बात की गई है।

यह प्रथम दृष्ट्या मध्यमवर्गीय मानसिकता से मोहक प्रस्ताव लग सकता है। इससे जाहिर है कि निजीकरण को शिक्षा में वैधरूप देने का प्रयास है और कारण के तौर पर सरकारी व्यवस्थाओं का संतोषजनक न होना बताया जा रहा है। मजेदार बात ये है कि नीति निर्माता एवं नियामक लोगों का ही ये मानना है कि अब उनके द्वारा संचालित व्यवस्था से ज्यादा उम्मीद न करें। वह उनके हाथ से फिसल गई है। यदि वह उनके हाथ से फिसल गई है तो आगे क्या व्यवस्था होगी ? उनका प्रस्तावित सुझाव है कि अब बाजार और बाजारी प्रतिस्पर्द्धा द्वारा व्यवस्था का बनना व उसकी गुणवत्ता तय होगी।

हमारे योजनाकार अनेकानेके क्षेत्रों में ‘ज्ञानामृत या मंत्र’ पाने के लिए ‘विकसित देशों’ की तरफ मुंह बाए खड़े दिखते हैं। इस नजरिए से पिटी-पिट्टाई योजनाएं भी हमारे यहां आयातित होती हैं। जिस वाउचर व्यवस्था की बात की गई उसका ताजा इतिहास यह है कि इसे अमेरिका में फ्लोरिडा के गवर्नर जेब बुश ने लागू किया था और वहां जन प्रतिरोध और सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद इसे वापस ले लिया गया। बुश पर आरोप था कि उसने होमस्कूलिंग को बढ़ावा देने, साथ ही वहां के स्कूलों में शिक्षक-छात्र अनुपात के दबाव को कम करने के लिए यह कदम उठाया एवं निजी संस्थानों को फायदा पहुंचाने के लिहाज से सार्वजनिक धन का उपयोग किया। क्योंकि वहां पर शिक्षक-छात्र अनुपात बढ़ गया था और चुनाव के समय उन्होंने यह वायदा किया था कि वे शिक्षा की स्थितियों में सुधार के लिए काम करेंगे। हालांकि कोर्ट ने आदेश दिया कि, “वाउचर व्यवस्था फ्लोरिडा के संविधान का उल्लंघन है जो कि राज्य द्वारा सभी बच्चों को ‘समान, पर्याप्त, सुरक्षित, सुलभ तथा उच्च गुणवत्तापूर्ण’ शिक्षा व्यवस्था के लिए प्रतिबद्ध है।” वाउचर व्यवस्था में बच्चों के माता-पिता के लिए बच्चों की शिक्षा के लिए राज्य द्वारा राशि दी जाती है जिससे कि वे किसी भी स्कूल में, निजी स्कूल हों या सरकारी,

अपने बच्चों को पढ़ा सकते हैं। लेकिन यहां भी राज्य द्वारा संचालित व्यवस्था को सुधारने से सरकार हाथ झाड़ रही है। फ्लोरिडा में असंवैधानिक करार दिए जाने और सार्वजनिक धन के इस प्रकार के उपयोग संबंधी आपत्तियों के बावजूद योजना आयोग हमारे यहां इसे लागू करने का प्रस्ताव दे रहा है। भारत जैसे देश में इसके परिणाम क्या होंगे इसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

अच्छे स्कूल के चुनाव में माता-पिता के सामने दो तरह की चुनौतियां हैं। एक, पर्याप्त विकल्पों का होना। दूसरा, माता-पिता द्वारा उपयुक्त स्कूल का चुनाव करना। हमारे सामने उपलब्ध विकल्पों के बारे में हम बेहतर रूप से जानते हैं कि मोहक दिखने वाले स्कूलों की वास्तविक स्थिति क्या है? हाल ही जयपुर के एक नामी निजी स्कूल के बारे में अखबार में खबर छपी है कि शिक्षक द्वारा तंग किए जाने पर 13 वर्षीय बच्चे को आत्महत्या के लिए विवश होना पड़ा। यह नई और केवल मात्र घटना नहीं है। आत्महत्या के और भी कारण हो सकते हैं। लेकिन यह घटना इन स्कूलों का एक यथार्थ हमारे सामने रखती है। दूसरी घटना है, मेरे एक मित्र ने अपने बच्चे की पढ़ाई के लिए एक अपेक्षाकृत 'बेहतर' स्कूल चुना और कुछ ही समय बाद स्कूल से तमाम कारणों-होमवर्क का दबाव, पाठ्यपुस्तकें, शिक्षाक्रम आदि - से मोहभंग हो गया और उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा। स्थिति ये है कि जयपुर जैसे शहर में अच्छे विकल्प की आज भी तलाश है जहां बच्चों के लिए सीखने के विविध अवसर एवं विकल्प हों। और ये स्थिति एक दो बच्चों के माता-पिता की नहीं है। जो भी माता-पिता अपने बच्चों की अच्छी शिक्षा का सपना देखते हैं उनकी स्थिति यही है। तो ये हकीकत है निजी स्कूलों की। दूसरी बात है कि क्या हर एक माता-पिता के लिए वास्तव में यह तय करना आसान है कि 'अच्छा स्कूल' या 'अच्छी शिक्षा' क्या है? यदि यह संभव होता तो शायद समस्या की जटिलता थोड़ी कम हो जाती। क्योंकि यह समझ ही अच्छी शिक्षा की मांग का कारण बन सकती है और सरकार या शैक्षिक संगठनों पर अच्छी शिक्षा के लिए दबाव बनाने का काम कर सकती है। लेकिन आमजन के लिए दिखने में भव्य एवं मंहगे स्कूल ही अच्छी शिक्षा या अच्छे स्कूल का पर्याय हो गए हैं।

योजना आयोग के दस्तावेज में वर्णित सरकारी स्कूलों की स्थिति से आंख चुराने की बात नहीं है। ये हकीकत है। लेकिन इससे इस नतीजे पर पहुंचना कि निजीकरण इसका बेहतर विकल्प है शायद ज्यादा उचित नहीं है। बाजार प्रतिस्पर्द्धा तो करता है लेकिन केवल प्रतिस्पर्द्धा स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता को सुधार सकती है यह कहना ज्यादा उपयुक्त नहीं होगा। बाजार दिखावे या प्रचार के माध्यम से लोगों की मूल प्रवृत्तियों का उत्पाद बेचने के लिए दोहन करता है। शिक्षा के निजीकरण में ये कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि किसी स्कूल के प्रचार में शैक्षिक प्रक्रियाओं को सुधारने के बजाए ज्यादा संसाधनों का उपयोग किया जाए।

एक नजर उन अध्ययनों पर भी डालनी चाहिए जिनके आधार पर निजीकरण को वैध ठहराया जाता है और जो उन्हें वैचारिक खुराक प्रदान करते हैं। और यह भी देखना चाहिए कि उनसे किस प्रकार इस तरह के नतीजों पर पहुंचा जाता है। ऐसे अनेक प्रायोजित शोध शिक्षा एवं अन्य क्षेत्रों में किए जाते हैं जो कि पूर्व निर्धारित निष्कर्षों को ही पुष्ट करते हैं, और जो कि निजीकरण के लिए रास्ता खोलते हैं। भारत के बारे में कुछ अध्ययन ये कह रहे हैं कि यहां की सरकारी शिक्षा व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी है और निजी स्कूल अच्छी शिक्षा के केन्द्र हैं। इनमें से एक है गीता किंगडन जो कि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में रिसर्च ऑफिसर हैं। और दूसरे हैं जेम्स टूली साहब जो कि इंग्लैण्ड के न्यूकैसल विश्वविद्यालय में शिक्षा नीति के प्रोफेसर हैं और इससे पूर्व मेनचेस्टर विश्वविद्यालय में स्कूली शिक्षा के रिसर्च फेलो रह चुके हैं। टूली साहब तमाम अविकसित एवं विकासशील देशों जैसे नाइजीरिया, केन्या, घाना, चीन, भारत

आदि में किए गए शोधों के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि निजी विद्यालयी व्यवस्था गरीबों के लिए उपलब्ध है और वह गुणवत्तापूर्ण है। भारत में ही हैदराबाद की कच्ची बस्तियों के स्कूलों का जिक्र करते हुए कहते हैं कि छप्पर या टीनशेड में चलने वाले निजी स्कूलों में शिक्षक उन्हें काम करते मिले और शाला संचालक कहीं ज्यादा उत्साह के साथ मिले। लेकिन जिस तरह की तंग गलियों में न्यूनतम सुविधाओं के अभाव में चलते स्कूलों का वर्णन किया गया है क्या वे हमारे राष्ट्र के मानक स्कूल हो सकते हैं ? क्या हम हमारे देश में बहुतायत निजी स्कूलों की स्थिति से अच्छी तरह वाकिफ नहीं हैं कि कम वेतन पर कम पढ़े-लिखे बेरोजगारों को बिना प्रशिक्षणों के वहां भर्ती कर लिया जाता है और वे दबाव व शोषण के शिकार होते हैं। ऐसे शिक्षकों से ये आशा करना कि वे बच्चों को अच्छी शिक्षा प्रदान करेंगे कितना उचित है ? क्या हर गांव या कच्ची बस्ती के माता-पिता शिक्षा के व्यय को स्वयं उठाने में आज भी सक्षम हैं जबकि भारत की आर्थिक गणनाएं कह रही हैं कि अभी भी भारत में गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या 30 प्रतिशत तक है ? क्या अच्छी शिक्षा के मानक सिर्फ पढ़ने-लिखने की क्षमताओं और जोड़ गुणा बाकी को मान लिया जाना उचित है ? यह हम नहीं कहना चाहते कि इससे ये निष्कर्ष निकाला जाए कि सरकारी स्कूल इन बुराइयों से बचे हुए हैं। लेकिन इसे आदर्श के रूप में स्थापित करना भी समझ नहीं आता। इन बुद्धिजीवियों ने ऐतिहासिक संदर्भों के हवाले से भी यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि राज्य द्वारा कभी भी अच्छी शिक्षा उपलब्ध नहीं करवाई है। लेकिन यह भी ध्यान देने की बात है कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों या इतिहास से जिनमें कि दृष्टि आदि को लेकर खास तरह की व्यक्तिनिष्ठता होती है, के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचना कि आगे ऐसा होना चाहिए, ठीक नहीं है। थोड़ी देर के लिए ये मान लें कि शोधों से ज्ञात यह तस्वीर सही है लेकिन यदि राष्ट्रीय सरकार में यह प्रतिबद्धता आ जाए कि शिक्षा की स्थिति को सुधारना है तो क्या ये तस्वीर ऐसी ही बनी रहेगी ? बदल नहीं जाएगी ? अतः समाजशास्त्रीय अध्ययनों में 'क्या है' से 'क्या होना चाहिए' का निष्कर्ष आसानी से नहीं निकाला जा सकता। जबकि यह भी हम इतिहास से ही जानते हैं कि मानव समाज ने मानवीय अधिकार, गरिमा, स्वतंत्रता आदि लम्बे संघर्ष से ही प्राप्त किए हैं।

ये हम सभी मानते हैं कि अभी सरकार द्वारा सभी की शिक्षा के लिए समर्थ व्यवस्थाएं नहीं की गई हैं इसलिए निजी स्कूलों एवं अन्य प्रकार के स्कूलों को एक तरह की मान्यता दी गई है लेकिन उन्हें ही मानक मान लेना शायद बड़ी भूल होगी। टूली साहब अपने एक लेख- शिक्षा का उद्यम : भारत के लिए अवसर और चुनौतियां - में गीता किंगडन के उत्तरप्रदेश में किए गए एक शोध के हवाले से कहते हैं कि यदि बच्चों के उपलब्धि स्तर और प्रति बच्चा व्यय के हिसाब से देखा जाए तो सरकारी स्कूल निजी स्कूलों से मंहगे और उपलब्धि स्तर के लिहाज से निजी स्कूलों की बनिस्पत पीछे हैं। यहां सवाल है कि उपलब्धि स्तर किसका ? क्या सिर्फ गणित और भाषा का उपलब्धि स्तर जांचना ही पर्याप्त होगा ? क्या मानवीय श्रम के मूल्य को एक हजार या डेढ़ हजार रुपये करके प्रति बच्चा व्यय को कम करना उचित होगा ? क्या एक प्रकार के संस्थानों का जो कि व्यापक जन समुदाय को सेवाएं प्रदान कर रहे हैं, के स्थान पर अनियंत्रित दूसरी व्यवस्था स्थापित करना उचित होगा ? टूली साहब ने प्रोब रिपोर्ट को भी अपनी बात कहने का आधार बनाया है। वहां भी निजी विद्यालयों के बनिस्पत सरकारी विद्यालयों की स्थिति चिंताजनक है। लेकिन टूली साहब प्रोब रिपोर्ट के पृष्ठ 106 पर कही बात को भूल जाते हैं कि, "निजी विद्यालयों का विस्तार सरकारी स्कूलों को कमजोर करने वाले वास्तविक खतरे की तरफ ले जाता है। जब माता-पिता के पास ये विशेषाधिकार है कि वे अपने बच्चों को सरकारी स्कूल छोड़कर निजी स्कूल में डाल दें तो ये माता-पिता पर सरकारी स्कूलों को सुधारने के दबाव को कम करेगा।"

लेकिन ये बात भी समझने की है कि जिन अविकसित या विकासशील देशों में ये अध्ययन किए गए हैं, भारत

एवं चीन को एक मायने में छोड़कर, उन देशों की सरकारें देश के विकास के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं और कमजोर सरकारें हैं जो कि या तो पूंजीवादी बाजारवादी व्यवस्था में बहुराष्ट्रीय संस्थानों के आगे घुटने टेक चुकी हैं या फिर अन्तर्राष्ट्रीय अनुदान एजेंसियों के एजेण्डा को पूर्णतः मान चुकी हैं।

टूली साहब और उनके जैसे निजीकरण के पैरोकारों की यह जमात राज्य के प्रति अत्यधिक निराशावादी है और बाजार के प्रति अत्यधिक आश्वस्त है विशेष रूप से जबकि लाभ कमाने वाले इसमें शामिल हैं। हमारा संविधान 5 से 14 वर्ष के बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा की बात कर रहा है। ऐसी स्थिति में ऐसे प्रस्तावों पर बहस का कारण समझ में नहीं आता। इसकी बजाए बहस ये होनी चाहिए कि अच्छी शिक्षा क्या है और उसे किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। यह कहकर पल्ला झाड़ने से काम नहीं चलेगा कि यह व्यवस्था ठीक से काम नहीं कर रही है, अतः इसे बदल दिया जाना चाहिए। यदि बदलने के ही सवाल हैं तो ये हमारे लिए हमारी सरकारों के संदर्भों और उन तमाम राजकीय संस्थानों के संदर्भों को अछूता नहीं छोड़ेगा जो कि इस प्रकार की योजनाएं प्रस्तावित कर रहे हैं।

सुश्री हेमलता प्रभू (अप्रैल 23, 1920 - जून 23, 2006) का व्यक्तित्व बहुआयामी था। उन्होंने अपनी रुचियों के क्षेत्र में गहरी प्रतिबद्धता से काम किया। नाटक, संगीत, साहित्य एवं खेल में उनकी गहन रुचि थी। वे राजस्थान की पहली महिला नाट्य निर्देशिका थीं। उन्होंने अंग्रेजी के अनेक नाटकों का निर्देशन किया।

सुश्री प्रभू सर्वप्रथम अच्छी शिक्षक थीं। उन्होंने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत जयपुर के महारानी गायत्री देवी स्कूल से की। इसके बाद महारानी कॉलेज में अध्यापन का कार्य किया। यह समय (1945) राजस्थान में महिला शिक्षा का आरंभिक दौर था जबकि महिलाओं के लिए शिक्षा को अच्छी पत्नी, कुशल गृहणी एवं सुशिक्षित मां के रूप में देखा जाता था। लेकिन उनका विश्वास था कि, “‘लोगों की सोच में बदलाव आते हैं उनके सुनने, देखने और पढ़ने से, जो पहले तो चौंका देने वाला होता है किन्तु धीरे-धीरे चेतना को निखारता है ...।”

सुश्री प्रभू ने राजस्थान में पीयूसीएल के गठन में सक्रिय भूमिका निभाई और लंबे अर्से तक राजस्थान शाखा की महासचिव एवं अध्यक्ष रहीं। जब राजस्थान में महिला आन्दोलन संगठित रूप में नहीं था उन्होंने महिला आंदोलन का नेतृत्व किया और उसे दिशा प्रदान की। सुश्री प्रभू राजस्थान में महिला शिक्षा, महिला आंदोलनों एवं मानवाधिकार के लिए सदैव संघर्ष करती रहीं।

अब वे हमारे बीच नहीं हैं। हमारे सामने उनकी प्रेरणा है और ये प्रेरणाएं चुनौति भी प्रस्तुत करती हैं कि उनके काम और सपनों को हम कैसे आगे बढ़ाएं।

हम दिगन्तर एवं शिक्षा विमर्श की ओर से उनके देहावसान पर गहरा शोक व्यक्त करते हैं और उन्हें श्रद्धांजली अर्पित करते हैं। ♦

विश्वंभर